विक्रम संवत-२०३६, भाद्र शुक्ल - ४, शनिवार, तारीख १३-९-१९८०
वचनामृत -३७८, ३८०, ३८२ प्रवचन-३२

वचनामृत में ३७८वें का अन्तिम। यह साधक है न? **साधक को शुभभाव उपाधिरूप लगते हैं...** क्या कहते हैं? कि आत्मा निर्मल शुद्ध चैतन्य है, उसकी जहाँ दृष्टि हुई अर्थात् शुभभाव उपाधिरूप लगते हैं। आहाहा! क्योंकि शुभभाव आकुलता है। शुभभाव, वह राग है। इसलिए उस साधक को शुभभाव उपाधि ज्ञात होती है। **इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि वे भाव हठपूर्वक होते हैं।** हठपूर्वक नहीं होते। सहज उस समय क्रमबद्ध में वह आने का, होने का काल है, इसीलिए वह शुभभाव होता है। आहाहा! होने का वह काल है, इसलिए होता है। आहाहा! यह बात। **यों तो साधक के वे भाव हठरहित सहजदशा के हैं,...** यहाँ तक आया था।

अज्ञानी की भाँति 'ये भाव नहीं करूँगा तो परभव में दुःख सहन करना पड़ेंगे' ऐसे भय से जबरन कष्टपूर्वक नहीं किये जाते;... एक तो यह कि ऐसे भय से करूँ, भय ज्ञानी को है ही नहीं। **भय से जबरन....** जबरदस्ती भी नहीं। वह तो उस काल में आने का काल है, भाव होने का वह जानने के लिये जानता है। आहाहा! ज्ञान पर जिसकी दृष्टि है, ज्ञायक पर जहाँ दृष्टि है, उसे उस काल में जब शुभ का समय है, वह आना होता है, वह आता है, उसे भय से नहीं, बलजोरी से नहीं, तथा दुःख सहन करने पड़ेंगे, इसलिए शुभ करूँ - ऐसा भी नहीं। आहाहा! **ऐसे भय से जबरन कष्टपूर्वक नहीं किये जाते;...** दुःखपूर्वक करने में नहीं आते। शुभभाव आते हैं। शुद्ध का उपयोग अन्दर कहीं कायम नहीं रहता। साधकपना कायम रहता है। धर्मी को साधकपना कायम रहता है परन्तु उपयोग साधकपने का कायम नहीं रहता। आहाहा! अर्थात् उपयोग में तो शुभादि भाव आवे हैं, परन्तु सहजरूप से वे आते हैं। उनके कालक्रम में आने का काल हठ बिना आते हैं, उसे जानता है। आहाहा! ऐसी बात है।

तथापि वे सुखरूप भी ज्ञात नहीं होते। कष्टपूर्वक नहीं किये जाते। **तथापि वे सुखरूप भी ज्ञात नहीं होते।** आहाहा! दो बातें कही। एक तो यह कि कष्टपूर्वक नहीं किये जाते। वे तो आ जाते हैं। आहा..! **तथापि वे सुखरूप भी ज्ञात नहीं होते।** धर्मी को शुभभाव सुखरूप ज्ञात नहीं होते। आहाहा! यहाँ तक जाना। बात चैतन्यस्वरूप शुद्ध ज्ञानघन आनन्दकन्द जहाँ दृष्टि में आया, उसे शुभभाव आते हैं परन्तु दुःखरूप लगते हैं। आहा...! **शुभभावों के साथ-साथ...** शुभभावों के साथ-साथ **वर्तती, ज्ञायक का अलम्बन लेनेवाली जो यथोचित निर्मल परिणति,...** जाननहार ज्ञायकप्रभु आत्मा को अवलम्बन करनेवाली परिणति। ज्ञायक को, जाननस्वभाव चैतन्यमूर्ति को अवलम्बन करनेवाली... आहा..! यथोचित—यथायोग्य **निर्मल परिणति, वही साधक को सुखरूप ज्ञात होती है।** आहाहा! जो आत्मा आनन्दस्वरूप, उसका भान हुआ, इसलिए उसे परिणति में सुखरूप परिणति भी है और शुभराग है, वह दुःखरूप भी है। तथापि उस साधक को निर्मल परिणति वह सुखरूप ज्ञात होती है। शुभभाव सुखरूप ज्ञात नहीं होता। आहाहा! कितनी शर्तें!

जिस प्रकार हाथी के बाहर के दाँत-दिखाने के दाँत अलग होते हैं... आहाहा! हाथी के बाहर के दाँत अलग होते हैं। **और भीतर के दाँत-चबाने के दाँत अलग होते हैं,...** आहाहा! **उसी प्रकार साधक को...** आहा..! आत्मा आनन्द और ज्ञायकस्वरूप है, ऐसी जो दृष्टि अन्दर परिणमित हुई, ऐसे धर्मी साधक को **बाह्य में उत्साह के कार्य—शुभ परिणाम दिखायी दें,...** हाथी के जो बाहर के दाँत दिखते हैं... आहाहा! ऐसे शुभभाव... आहाहा! **उत्साह के कार्य—शुभ परिणाम दिखायी दें, वे अलग होते हैं...** अन्तर की परिणति से वे अलग होते हैं। शुद्ध चैतन्यमूर्ति ऐसे आत्मा की दृष्टि के साधकपने में वे अत्यन्त भिन्न ही दिखायी देते हैं; एक नहीं। आहाहा! ऐसा धर्म।

शुद्धात्म परिणति-शुद्ध चैतन्य की परिणति / दशा, वह तो कायम होती है। तथापि उसमें जब शुभभाव आवे, वे हठपूर्वक नहीं आते। तथापि वे सुखरूप नहीं लगते। आहाहा! सुखरूप तो साधक परिणति ज्ञात होती है। आहाहा! यह बाहर की बात तो इसमें कहीं नहीं आयी। बाहर की आयी, परन्तु वह शुभभाव। आहा..! जैसे हाथी के अन्तर के दाँत अलग और बाहर के अलग, इसी प्रकार साधक की अन्तर की परिणति अलग और बाहर के उल्लासपूर्वक दिखायी देते शुभभाव, भले उल्लासपूर्वक दिखायी दें भक्ति आदि

में, तथापि वे बाहर के दाँत अलग हैं। बाहर के भाव भिन्न ज्ञात होते हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

और अन्तर में आत्मशान्ति का—आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणमन... आहा..! हाथी के दाँत की भाँति अन्तर के चबाने के अलग और दिखाने के अलग; इसी प्रकार शुभभाव उत्साहपूर्वक बाहर में दिखायी दे परन्तु वह दुःखरूप है। अन्तर में चैतन्य की शुद्ध परिणति है, वह सुखरूप है। आहाहा! **अन्तर में आत्मशान्ति का—आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणमन...** धर्मी को अन्तर भगवान आत्मा शान्त और आनन्दरूप है। उसकी परिणति तो निरन्तर चलती ही है। आहा..! अधूरा है, इसलिए उसे बीच में शुभभाव आते हैं और उल्लासपूर्वक भी ज्ञात होते हैं, तथापि उन्हें सुखरूप नहीं मानता। आहाहा!

मुमुक्षु :- शुभभाव को लम्बाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- आते हैं, आ जाते हैं। लम्बाता कुछ नहीं है। परिणति-प्रयत्न तो ध्रुव की ओर ही है। परन्तु उसका काल हो, तब शुभभाव आता है, आता है, लम्बाता नहीं है। आता है, जानता है। आहाहा! दृष्टि ज्ञायक पर होने पर भी ज्ञायक का शुद्ध परिणमन होने पर भी उसके काल के क्रम में वह परिणति शुभ की आये बिना नहीं रहती, उसे लम्बाता भी नहीं तथा उसकी हठ नहीं करता तथा उसे कष्टपूर्वक नहीं मानता। कष्टपूर्वक करना पड़ता है, ऐसा नहीं; आ जाते हैं। आहाहा! तथापि उन्हें दुःखरूप मानता है। कष्टपूर्वक करना पड़ता है, ऐसा नहीं। यह हठपूर्वक करना पड़ता है, ऐसा नहीं। आ जाते हैं, होते हैं, परन्तु हैं वे दुःखरूप। आहाहा!

अन्तर में आत्मशान्ति का—आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणमन... आहाहा! **अलग होता है।** उस शुभभाव से अन्तर के आत्मतत्त्व के अन्तरात्मा की परिणति शुभभाव से अत्यन्त भिन्न होती है। आहाहा! अरे..! अशुभभाव भी आते हैं परन्तु उनसे परिणति तो अत्यन्त भिन्न रहती है। आहाहा! काम बहुत कठिन! अज्ञानी का शुभभाव तो अकेली दृष्टि वहाँ है, वह अधर्म ही है। ज्ञानी का अशुभभाव है दुःख, परन्तु उसे जाननेवाला भिन्न रहता है। दोनों बातें अलग रहती हैं। आहाहा! जाननेवाला वह मैं भिन्न हूँ और यह राग होता है, वह भिन्न चीज़ है। आहाहा! ऐसी बात है।

बाह्य क्रिया के आधार से साधक का अन्तर नहीं पहिचाना जाता। है ? आहा...! बाह्य क्रिया के आधार से। आहाहा! साधक का अन्तर नहीं पहिचाना जाता। बाह्य क्रिया तो अनेक प्रकार की, विविध प्रकार की शुभ-अशुभ की दिखायी देती है परन्तु अन्तर की जाति है, (उसका) अन्दर परिणमन अलग होता है। आहाहा! **बाह्य क्रिया के आधार से साधक का अन्तर नहीं पहिचाना जाता।** यह तो अन्तर की दृष्टि से पहिचाना जाता है। आहाहा! शब्द कैसे आये हैं, देखो न! पश्चात् ३८०।

जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी॥३८०॥

३८०। द्रव्य उसे कहते हैं कि अपने साधन के लिये बाह्य (साधन की) राह देखने की आवश्यकता न पड़े। एक यह तत्त्व आ गया। द्रव्य उसे कहते हैं, वस्तु आत्मा उसे कहते हैं कि अपने साधकभाव के लिये परद्रव्य के साधन की राह देखनी नहीं पड़ती। आहाहा! अब ऐसा यह आया। यह सिद्धान्त।

जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती,... आहाहा! सोने को जंग नहीं होती। आहाहा! हिन्दी भाषा में सोने को जंग नहीं होती। यह हिन्दी भाषा। आहाहा! सोने को जंग नहीं लगती। आहाहा! **अग्नि को दीमक नहीं लगती,...** हिन्दी भाषा में दूसरी भाषा होगी। उदई की जगह जीवडा (दीमक)। **अग्नि को दीमक नहीं लगती,...** आहाहा! जहाँ अग्नि होती है, वहाँ दीमक नहीं होती। दीमक होती ही नहीं। आहाहा! और होवे और कदाचित् कहीं बाँबी फटकर (बड़ी तादाद में बाहर आवे) तो जलकर राख हो जाए। आहाहा! एक बार (संवत्) १९७५ में पालियाद में देखा था। अपवास करते न, आठम और ... और दोपहर बारह बजे, एक बजे धूप में दिशा को जाना पड़े। यह ७५ की बात है। बाहर बहुत तेज धूप में दिशा को गये, जहाँ दिशा (दस्त) के लिये बैठे, वहाँ दीमक ऐसे निकट में दिखती थी परन्तु दीमक उसके राफडा (बाँबी) में से निकले ऐसे, वहाँ धूप की इतनी गर्मी की तुरन्त मर जाए। जैसे धाणी (सिंक) जाए ऐसे धाणी हो जाए। आहाहा! दीमक...

दीमक। उसे जीवडा कहते हैं। उसे दीमक नहीं होती। आहाहा! सोने का जंग नहीं होती। आहाहा! अग्नि में, अग्नि को दीमक नहीं लगती। आहाहा! दो (बातें)। यह तो दृष्टान्त हुआ।

उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण,... भगवान ज्ञायकस्वभाव में आवरण नहीं होता। वह त्रिकाल निरावरण है। आहाहा! द्रव्यस्वभाव जो है, द्रव्यस्वभाव – वस्तु, वह तो त्रिकाल निरावरण है। यह समयसार की ३२० वीं गाथा में, जयसेनाचार्य की टीका में आता है। त्रिकाल निरावरण, आहाहा! वस्तु तो त्रिकाल निरावरण ही अन्दर स्थित है। आहाहा! यह तो पर्याय में एक समय की अवस्था में राग के सम्बन्ध से आवरण दिखता है। आहाहा! बाकी वस्तु में आवरण नहीं है। क्योंकि पर्याय में अशुद्धता आवे, तब तो शुद्धता ढँक जाती है, शुद्धता का नाश होता है। इसी प्रकार यदि द्रव्य में वस्तु को आवरण आवे तो अवस्तु हो जाए। आहाहा! वस्तु को आवरण आवे तो अवस्तु हो जाए। ऐसा कभी तीन काल में नहीं होता। इसीलिए वस्तु में तीनों काल में आवरण नहीं है। आहाहा!

इस ज्ञायकस्वभाव में आवरण नहीं है, हीनता नहीं है। आहाहा! न्यूनता नहीं है। यह तो परिपूर्ण वस्तु अन्दर है। आहाहा! वस्तु से द्रव्य जो हो, उसमें हीनता नहीं होती, न्यूनता नहीं होती, तथा आवरण तो होता ही नहीं तथा हीनता नहीं। हीनता – न्यूनता। त्रिकाली द्रव्य में कुछ कमी है, कुछ कमी है, ऐसा नहीं है। त्रिकाली द्रव्य में कमी नहीं है। आहाहा! तथा **अशुद्धि नहीं आती।** त्रिकाली द्रव्य में अशुद्धि नहीं है, अशुद्धि तो पर्याय में है। एक समय की पर्याय में अशुद्धता भासित होती है। वस्तु देखो, तब तो त्रिकाल (शुद्ध ही है)। आहाहा! शुद्धि में अशुद्धि जरा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा कब ध्यान रखे?

अन्दर भगवान आत्मा देह के परमाणु से तो भिन्न, परन्तु अन्दर के दया, दान और भक्ति आदि के भाव, वह विकार है, उससे भी भिन्न है। आहाहा! कठिन लगे ऐसा है। उसमें अभी प्रचलित प्रवाह बाहर में सब मथकर पड़े हैं। मूल भगवान पड़ा रहा अन्दर। अन्दर चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु... आहाहा! अग्नि को... आहाहा! दीमक नहीं होती। सोने को जंग नहीं लगती, इसी प्रकार भगवान आत्मा को अन्दर वस्तु है, उसे आवरण नहीं होता, उस वस्तु में हीनता नहीं होती, न्यूनता नहीं होती तथा अशुद्धि नहीं होती। आहाहा!

अन्दर ऐसी चीज़ भगवान विराजमान है शरीर में। प्रत्येक-प्रत्येक के शरीर में परमात्मा विराजमान है। उसकी शक्ति की परमात्मस्वरूप है। परन्तु उस पर इतने अनन्त काल में कभी नजर नहीं की है। बाहर में और बाहर में पर्याय में और राग में अटक गया है। चीज़ रह गयी है अन्दर। आहाहा!

ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। आहाहा! **तू उसे पहिचानकर....** ऐसा अन्दर भगवान विराजता है, चैतन्यमूर्ति ज्ञायक सच्चिदानन्द प्रभु, सत् कायम रहनेवाले ज्ञान और... चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द, कायम रहनेवाला प्रभु ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है अन्दर। आहाहा! उसे तू पहिचान। है न? **तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो...** पहिचाने बिना लीन नहीं हुआ जाता। वह चीज़ क्या है, यह ख्याल में आये बिना लीनता किसमें करना? जो चीज़ ख्याल में ही न आवे, उसमें लीनता / एकाग्रता, उस ओर का झुकाव कहाँ से बने? आहाहा!

अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान,
सेवन नहीं गुरु सन्त का, छोड़ा नहीं अभिमान।

मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ, मुझे आता है। ऐसे के ऐसे... यह आगे आयेगा। आहाहा! यह तुरन्त ही आयेगा। आहाहा!

तू उसे पहिचानकर... अन्दर भगवान चैतन्य ज्ञायकस्वभाव सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का दल और कन्द है, उसे पहिचानकर उसमें लीन हो। यह करना है। जिसे जन्म-मरणरहित होना हो तो उपाय तो यह है। अभी तो दूसरे अनेक मार्गों में मनवा दिया है। कहीं दान में और दया में और व्रत में, अपवास में और भक्ति में पूजा में मनवा दिया है कि यह सब करो, जाओ! कल्याण होगा। अरे..! भाई! ये सब विकल्प हैं, राग है। आत्मा इनसे अत्यन्त निर्विकल्प भिन्न-भिन्न तत्त्व है। आहाहा! उसे पहिचानकर उसमें लीन हो। तू उसे पहिचान अर्थात् कि किसी दूसरे से नहीं। आहाहा! बराबर है? तू उसे पहिचान अर्थात् दूसरा कोई पहिचान करानेवाला मिल गया, ऐसा नहीं। आहाहा! यह दूसरा तो कहे, कहकर छूट जाए। वहाँ कोई उसके लक्ष्य से ज्ञात नहीं होता।

तू उसे पहिचानकर... आहाहा! **उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी।** आहाहा! यह क्या कहा? उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुण जितने अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुण है। भगवान आत्मा में संख्या से अनन्त-अनन्त गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रभुत्व, जीवत्व ऐसी अनन्त-अनन्त शक्तियों का वह पिण्ड है। आहाहा! परन्तु अरूपी है और जिसका स्वभाव है, उसे कोई क्षेत्र की विशालता की आवश्यकता नहीं है। उसके भाव के सामर्थ्य की आवश्यकता है। उसके भाव का सामर्थ्य अनन्त है। आहाहा! अब ऐसी बातें। ऐसे आत्मा को पहिचान, उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की... जितने गुण अनन्त हैं, उन सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी। अर्थात् तेरी पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय प्रगट होगी। आहाहा! तेरी वर्तमान दशा में यदि अन्तर को पहिचानकर अन्तर में जा, लीन हो तो तेरी वर्तमान दशा में अनन्त गुण का अंश प्रगट होगा। अनन्त गुणों की चमक बाहर आयेगी। उस चेतन के चमत्कार की दशा बाहर आयेगी। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वस्तु तो यह है। लोग दूसरे रास्ते चढ़ गये। उन्हें ऐसा सुनते हुए ऐसा लगता है कि यह तो निश्चय... निश्चय। परन्तु हमारे व्यवहार कैसे करना, वह इसमें कहाँ आया? व्यवहार, व्यवहार है, वह राग है, वह तो दुःख है। यह तो बात आ गयी। आहाहा! व्यवहार, वह दुःख है और निश्चय, वह सुख है। व्यवहार परदिशा की ओर, निश्चय स्वदिशा की ओर है, दोनों की दशा की दिशा में अन्तर है। आहाहा! ओहोहो!

सर्व गुणरत्नों की... देखी भाषा! जितने गुण हैं... सर्व गुणांश, वह समकित, श्रीमद् ने कहा न? वह यह। सर्व गुण। योग नाम का जो गुण है - अकम्प,... आहाहा! आत्मा में एक अकम्प नाम का गुण है कि जो चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण प्रगट होता है। उस गुण की भी चमक प्रगट होगी। आहाहा! आत्मा के स्वभाव की ओर ढलते हुए वह योग-कम्पन जो होता है, वह एक अंश रुक जाएगा और अकम्पपने का अंश, सर्व गुणांश में से इस गुण का भी अंश प्रगट होगा। आहाहा! गजब बात है! योग नाम का अन्दर गुण है, त्रिकाल। योग का गुण अर्थात् अकम्प गुण, हों! कम्प नहीं। अयोग गुण है वास्तव में। योग का अर्थ तो व्यापार इतना शब्द था मस्तिष्क में। परन्तु वास्तव में अयोग नाम का गुण आत्मा में है। आहाहा! जो चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण प्रगट होता है। उसका अंश भी तेरे

स्वरूप की ओर लक्ष्य करने पर सर्व गुण में से उस गुण का भी अंश-चमक प्रगट होगी। उसकी चमक प्रगट होगी। आहाहा! ऐसा किस प्रकार का धर्म? वे तो मन्दिर कराना और भक्ति करना और पूजा करना और पूरे दिन टीला-टपका करना और... वह होता है। परन्तु वह सब बात शुभभाव में पुण्य में जाती है। वह कोई धर्म-बर्म नहीं है। और उससे कहीं जन्म-मरणरहित हो, वह पद्धति नहीं है। लोगों ने तो उसे वहाँ चढ़ा दिया है। यह धर्म और इससे तुम्हारा मोक्ष होगा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, तेरे सर्व गुणों की, सर्व गुणरत्नों की, सर्व गुणरत्नों की-जितने गुण अनन्त हैं, अनन्तानन्त हैं, सबकी चमक प्रगट होगी। आहाहा! यह सर्व गुणांश, वह समकित। यह कहा वह। इस ओर दृष्टि होने पर जितने गुण हैं, उतने शक्तिरूप से, स्वभावरूप से सत्त्व ऐसा तत्त्व आत्मा, उसका सत्त्व भावरूप है, उस पर दृष्टि देने से सब गुणों का एक अंश भी वर्तमान पर्याय में प्रगट होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। सुना नहीं होगा यह। आहाहा! ३८० (पूरा हुआ)।

जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, वादविवाद करना जाने, प्रमाण-नय-निक्षेपादि से वस्तु की तर्कणा करे, धारणारूप ज्ञान को विचारों में विशेष-विशेष फेरे, किन्तु यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा के अस्तित्व को न पकड़े और तद्रूप परिणमित न हो, तो वह ज्ञेय निमग्न रहता है, जो-जो बाहर का जाने, उसमें तल्लीन हो जाता है, मानों ज्ञान बाहर से आता हो, ऐसा भाव वेदता रहता है। सब पढ़ गया, अनेक युक्ति-न्याय जाने, अनेक विचार किये, परन्तु जाननेवाले को नहीं जाना, ज्ञान की असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई, तो वह सब जानने का फल क्या? शास्त्राभ्यासादि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना है॥३८१॥

३८१। **जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले,...** आहाहा! शास्त्र पढ़ा, इसलिए उसे आत्मज्ञान हो जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! शास्त्र ग्यारह अंग का ज्ञान अरबों श्लोकों का अनन्त बार किया है। परन्तु उसमें आत्मा नहीं है। वह तो परसन्मुख के झुकाववाली

भाव दशा है। अन्तर भगवान आत्मा शास्त्र के पठन से भी पार है। आहाहा! **जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले,...** ऐसा कहा न? चाहे जितने। **जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, वादविवाद करना जाने,...** वाद-विवाद करके मानो कि ऐसा हो और ऐसा हो, ऐसा हो और ऐसा हो। बापू! यह तो सब विकल्प और राग है। आहाहा! **वादविवाद करना जाने, प्रमाण-नय-निक्षेपादि से वस्तु की तर्कणा करे,...** आहाहा! द्रव्य, वह नय का विषय है; पर्याय, व्यवहार का (विषय है), त्रिकाली द्रव्य निश्चय का विषय, पर्याय व्यवहार का विषय, पूरी चीज़ प्रमाण का विषय - ऐसे प्रमाण, नय, निक्षेप। निक्षेप—नाम निक्षेप, स्थापना, द्रव्य, भाव (निक्षेप)। आहाहा! ये ज्ञेय के भेद हैं। इसकी वस्तु की तर्कणा करे। आहाहा! प्रमाण, नय, निक्षेप का भी जानपना करे। १३वीं गाथा में आता है कि नय, निक्षेप, प्रमाण से पहिचाने, परन्तु वह अभूतार्थ है। वह चीज़ कहीं आत्मा के अनुभव में मदद करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसका भी लक्ष्य छोड़कर आत्मा की ओर का लक्ष्य करे और अन्दर में जाए तो अनुभव होता है। नय, निक्षेप और प्रमाण भी विकल्पात्मक है। आहाहा!

चाहे जितने नय सीखे। यह भी समयसार में आया है न? प्रभु! यह तेरे नय तो इन्द्रजाल है। व्यवहार से आत्मा में राग है, ऐसा कहे; निश्चय से नहीं है, (ऐसा कहे)। पर्याय को व्यवहार कहे, त्रिकाल को निश्चय कहे। एक ओर पर्याय को निश्चय कहे, अपनी है इसलिए। दूसरी ओर पर्याय को द्रव्य की अपेक्षा से व्यवहार कहे। आहाहा! ऐसा इन्द्रजाल।

मुमुक्षु :- न समझे उसके लिये इन्द्रजाल है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- उसके लिये है न। आहाहा! सूझे उसे तो तुरन्त सूझ पड़ जाए। आहाहा! एक ओर ऐसा कहे... आहाहा! पर्याय, वह व्यवहार; द्रव्य, वह निश्चय। एक ओर ऐसा कहे कि राग, वह व्यवहार और पर्याय, वह निश्चय। क्या अपेक्षा है? यह तो राग की अपेक्षा से इसे निश्चय कहा। स्व की है, इसलिए निश्चय कहा। परन्तु है अंश-वर्तमान दशा। पर्यायमात्र व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! केवलज्ञान और सिद्धदशा भी व्यवहारनय का विषय है। क्योंकि वह अवस्था पर्याय है। आहाहा!

निश्चय से तो भगवान आत्मा अनादि-अनन्त सच्चिदानन्द प्रभु... आहाहा! वह मोक्ष और मोक्ष के कारण को करे नहीं। आहाहा! शोर मचा डाले ऐसा है। वह तो पर्याय में होता है। मोक्ष और मोक्ष का कारण, धर्म और धर्म का फल मोक्ष, वह पर्याय में है; द्रव्य में नहीं। द्रव्य वस्तु है, वह तो त्रिकाल एकरूप निरावरण वस्तु भगवान है। आहाहा! एक ओर पर्याय को व्यवहार कहना और एक ओर निश्चय मोक्षमार्ग हो, उसे निश्चय कहना। आहाहा! राग के भाव को व्यवहार कहना और निश्चय मोक्षमार्ग जो आत्मा के अवलम्बन से होता है, उसे निश्चय कहना। और एक ओर ऐसा कहना कि वह पर्याय है, इसलिए त्रिकाल की अपेक्षा से वह व्यवहार है। आहाहा! आहाहा!

ऐसे **प्रमाण-नय-निक्षेपादि से वस्तु की तर्कणा करे,...** वस्तु समझे नहीं। अन्दर वस्तु क्या है। आहाहा! **धारणारूप ज्ञान को विचारों में विशेष-विशेष फेरे,...** जानपना लक्ष्य में रखकर, आत्मा के भान बिना, जानपने की बातें धारणा में रखकर। आहाहा! **धारणारूप ज्ञान को विचारों में विशेष-विशेष फेरे,...** आहाहा! वह कोई चीज़ नहीं है। वह तो विकल्प है, राग है। आहाहा! कठिन अधिकार है। **किन्तु यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा के...** ऐसा सब किया होने पर भी **किन्तु यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा के...** वह तो प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु है। आत्मा प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। प्रज्ञाब्रह्म आनन्दस्वरूप भगवान अन्दर है। आहाहा! ऐसा आत्मा **ज्ञानस्वरूप आत्मा के अस्तित्व को न पकड़े...** आहाहा! कठिन बात है।

चाहे जितने शास्त्र पढ़े, वाद-विवाद करना जाने, प्रमाण-नय-निक्षेपादि से वस्तु की तर्कणा करे, धारणारूप ज्ञान को विचारों में विशेष-विशेष पर्यटन करे परन्तु ऐसा करने पर भी यदि ज्ञानस्वरूपी भगवान प्रज्ञास्वरूप चैतन्यबिम्ब अन्दर भगवान ज्ञान चैतन्यचन्द्र, चैतन्यचन्द्र, वह ज्ञानचन्द्र ज्ञान की मूर्ति है। प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप आत्मा अन्दर पूरा है। आहाहा! ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा के अस्तित्व को पकड़े नहीं, उसकी अस्ति को पकड़े नहीं अर्थात् अनुभव नहीं करता। आहाहा! पूर्ण स्वरूप ऐसा जो भगवान आत्मा वस्तु है, पूर्ण स्वरूप है। उसे यदि पकड़े नहीं, उसकी अस्ति को और इस बाहर की अस्ति में रुक जाए। आहाहा! **और तद्रूप परिणमित न हो,...** पकड़े नहीं और उसरूप परिणमे नहीं। आहाहा!

आनन्द और ज्ञानरूप अवस्था होनी चाहिए, इसका नाम धर्म है। आनन्द और

ज्ञानस्वरूप प्रभु, त्रिकाली आत्मा आनन्दमूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु के ज्ञान और आनन्द का जो स्वभाव, उसरूप अवस्था का होना, उसरूप पर्याय-परिणमन का होना... आहाहा! **तद्रूप परिणमित न हो, तो वह ज्ञेय निमग्न रहता है,...** भाषा देखो! अन्तर स्वरूप ज्ञानप्रभु को पकड़े नहीं तो यह सब बोल जो कहे, वे ज्ञेय निमग्न हैं। आहाहा! ऐसी बातें। ज्ञेय अर्थात् पर जाननेयोग्य वस्तु में निमग्न है। स्व जाननेयोग्य वस्तु में से दूर है। आहाहा! ऐसी बात लोगों को कठिन लगती है, इसलिए बाहर के लोगों को... बापू! मार्ग तो ऐसा है।

अन्यमत में - वैष्णव में नरसिंह मेहता कह गये हैं, 'ज्यां लगी आत्म तत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' आत्मा का अनुभव नहीं, तब तक तेरी धारणा, भक्ति, पूजा, व्रत और तप सब एकरहित शून्य है। आहाहा! आहाहा! 'शुं कर्युं तीर्थ ने भक्ति करवा थकी?' ऐसे इस आत्मज्ञान के बिना ऐसी क्रिया में रुकने से उसे तद्रूप ज्ञान का भान नहीं होता। आहाहा! वह तो ज्ञेय निमग्न है। स्वज्ञेय निमग्न नहीं, परज्ञेय निमग्न। आहाहा! वह भी मग्न नहीं, निमग्न। पर में विशेष लीन हो गया है। अन्दर भगवान आत्मा भिन्न पड़ा है। चैतन्यानन्द चैतन्यस्वरूप भगवान अनादि-अनन्त—जिसकी उत्पत्ति नहीं, जिसका नाश नहीं। जो है, उसकी उत्पत्ति नहीं। जो है, उसकी उत्पत्ति नहीं; है, उसका नाश नहीं। ऐसा जो आत्मा, उसे यह जाने नहीं तो यह ज्ञेयनिमग्न रहता है। आहाहा!

जो-जो बाहर का जाने उसमें तल्लीन हो जाता है,... आहाहा! बाहर का जानने में आवे, उसमें एकाकार हो जाता है। अन्तर में जाने के लिये प्रयत्न नहीं करता। आहाहा! इस बाहर के जानपने में रुक गया। वह तो ज्ञेय अर्थात् परज्ञेय निमग्न (है)। आहाहा! **मानों ज्ञान बाहर से आता हो, ऐसा भाव वेदता रहता है।** आहाहा! जानने के भाव में अधिकता हो, जानने में वह ज्ञान मानो बाहर से आता हो, ऐसा मानता है। आहा...! जानने के भाव में, जानना अधिक हो तो वह बाहर का जानपना वह कहीं आत्मा का नहीं है और वह मानो बाहर से ज्ञान आता हो, ऐसा मानता है। आहाहा! **बाहर से आता हो, ऐसा भाव वेदता रहता है।**

सब पढ़ गया,... आहाहा! अनन्त बार अनन्त भव किये, अनादि का आत्मा, जिसकी आदि नहीं, अनन्त काल का उसमें अनन्त बार साधु हुआ, ग्यारह अंग पढ़ा परन्तु

आत्मा अन्तर्तत्त्व का अनुभव किया नहीं। आहाहा! बाहर से हजारों रानियाँ छोड़ी, राजपाट छोड़ा, ग्यारह अंग पढ़ा, इससे क्या? (समयसार) १४२ गाथा में आता है न? उससे क्या? अरे..! मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा विकल्प आया, उससे क्या? आहाहा! अकेला चैतन्यब्रह्म आत्मा आनन्द का नाथ, ऐसा एक विकल्प-राग आया कि मैं ऐसा हूँ। उससे क्या? वह भी राग है। आहाहा! बहुत कठिन काम। अनजाने लोगों को तो... व्यवहार के रसिकों को तो ऐसा लगता है कि यह तो अकेली निश्चय... निश्चय की बात है। साधन क्या? इसका उपाय क्या? वह तो आता नहीं। बापू! यह उपाय और साधन ही यह है। आहाहा! अन्तर स्वभाव में राग से भिन्न पड़कर जाना, वह साधक और उपाय है। राग और शास्त्र के जानपने में रुक जाना, वह कहीं साधक और उपाय नहीं है। अरे...! ऐसा...

सब पढ़ गया, अनेक युक्ति-न्याय जाने,... आहाहा! बहुत युक्ति और न्याय भी जाने, उससे क्या? **अनेक विचार किये,...** आहाहा! **परन्तु जाननेवाले को नहीं जाना,...** जिसकी सत्ता जानने की है, आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु ज्ञान का सागर है। वह तो ज्ञान की मूर्ति है। आहाहा! ज्ञातयोग्य वस्तु को जाना परन्तु जाननेवाले को नहीं जाना। आहाहा! जाननेवाले को नहीं जाना। आहाहा! आया न? **ज्ञान की असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई,...** जाननेवाले को नहीं जाना, इसकी विशेषता। **ज्ञान की असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई,...** ज्ञान की मूल भूमि आत्मा है। वह कहीं बाहर से जानपना है, वह कुछ वस्तु नहीं है। शास्त्र के पठन आदि या दुनिया को समझाना है, इसलिए यह ज्ञान, वह कुछ ज्ञान नहीं है। आहाहा! अन्तर में आत्मतत्त्व... आहाहा! ज्ञान की मूल भूमि नजर में आयी नहीं। आहाहा! ज्ञान की मूल भूमि अर्थात् आत्मा। आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। उसमें पुण्य और पाप, दया और दान रागादि उसमें है ही नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन लगे।

बहिन को रात्रि में विचार करते हुए किसी ने पूछा, तब तो यह हुआ, वह सब लिखा गया। आहाहा! **ज्ञान की असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई, तो वह सब जानने का फल क्या?** आहाहा! ज्ञान की मूल भूमि तो प्रभु आत्मा है। वह ज्ञानस्वरूपी है। जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है, जैसे नमक खारस्वरूप है; वैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! उस ज्ञानस्वरूप की भूमि हाथ न आयी। ज्ञान तो वह है। यह बाहर का जानना... जानना... यह कहीं ज्ञान नहीं है। आहाहा! **वह सब जानने का फल क्या?** आहाहा!

शास्त्राभ्यासादि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना है। शास्त्र अभ्यास आदि। वांचन, श्रवण, मनन आदि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना है। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा को जानना, वह इस सब का परिणाम है। वह नहीं जाना तो कुछ नहीं किया। आहाहा! अरे..! ऐसे का ऐसा जीवन व्यर्थ चला गया। बाहर से क्रिया की, व्रत किये, तपस्यायें की और अपवास किये और भक्ति की, लाखों-करोड़ों रुपये मन्दिर में खर्च किये, इससे मानो कुछ धर्म हो जाएगा। इससे बिल्कुल धर्म नहीं है। आहाहा! धर्म तो आत्मा की अन्तर की चीज़ में ज्ञानभूमि, आनन्दभूमि, शान्ति की भूमि वह स्वयं है। बाहर से जानपना (किया), वह नहीं। आहाहा! कठिन बात है। शास्त्र अभ्यासादि। उसमें यह कहा है न सब? **शास्त्राभ्यासादि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना...** आहाहा! यह ज्ञानस्वरूपी प्रभु है, उसका ज्ञान कहीं बाहर से लाना नहीं है, उसका ज्ञान बाहर से आता नहीं है। वह ज्ञानस्वभाव ... आहा..! वह ज्ञान-आत्मा को जाना वह ... है। आहा..! कठिन बातें हैं। **शास्त्राभ्यासादि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना है।** आहा..! ३८१ (पूरा हुआ)।

आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है; वह नित्य रहकर पलटता है। उसका नित्यस्थायी स्वरूपी रीता नहीं, पूर्ण भरा हुआ है। उसमें अनन्त गुणरत्नों के कमरे भरे हैं। उस अद्भुत ऋद्धियुक्त नित्य स्वरूप पर दृष्टि दे तो तुझे सन्तोष होगा कि 'मैं तो सदा कृतकृत्य हूँ'। उसमें स्थिर होने से तू पर्याय में कृतकृत्य हो जायेगा॥३८२॥

३८२। **आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है;...** आत्मा नयी अवस्था से उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था का अभाव होता है और ध्रुवरूप से कायम रहता है, नित्यरूप से कायम रहता है। उत्पाद-व्यय की अवस्था (होती है)। तो भी ध्रुवपना जाता नहीं और ध्रुव है तो भी उत्पाद-व्यय बिना रहता नहीं। तीन वस्तु होकर वस्तु है। तथापि उत्पाद, उत्पाद के कारण से है; व्यय, व्यय के कारण से है; ध्रुव, ध्रुव के कारण से है। आहाहा! **आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है; वह नित्य रहकर...** नित्य प्रभु है। अनन्त काल गया और

अनन्त काल जाता है, परन्तु वह तो नित्य वस्तु है, अनादि-अनन्त भगवान है। उसका कहीं अन्त नहीं। शुरुआत नहीं, अन्त नहीं। अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है। आहाहा!

वह नित्य रहकर पलटता है। पलटता है, बदलता है। नित्य भी रहता है और पर्याय में-अवस्था में पलटता है। आहाहा! **उसका नित्यस्थायी स्वरूप रीता नहीं,...** आहाहा! अर्थात् यह क्या कहा? नयी अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी का व्यय होता है, तो भी ध्रुवस्वरूप है। वह ध्रुव कहीं खाली नहीं है। वह ध्रुव स्वभाव से भरपूर है। आहाहा! उसमें दूसरी हिन्दी भाषा है, रिक्त नहीं है, खाली नहीं है। रिक्त नहीं है। आहाहा! **वह नित्य रहकर पलटता है। उसका नित्यस्थायी स्वरूपी रीता नहीं,...** आत्मा नित्य / कायम रहता है। पर्याय से-अवस्था से बदलता है। अनेक प्रकार की अवस्थाएँ बदलती है परन्तु वस्तु है, वह कायम रहती है। वह कायम रहती है... आहाहा! वह कहीं खाली नहीं है। **पूर्ण भरा हुआ है।** ध्रुव है, वह तो भरपूर भरा हुआ तत्त्व है। आहाहा! पूर्ण स्वरूप अन्दर है। अरे..!

वर्तमान अवस्था जो बदलती है, पर्याय बदलती है, वह तो अवस्था है। परन्तु शाश्वत् चीज़ जो अन्दर है, वह तो नित्य रहनेवाली है। आहाहा! वह नित्य रहनेवाली जो है, वह गुण से भरपूर भरचक है। शक्ति से पूर्ण भरपूर है। **उसमें अनन्त गुणरत्नों के कमरे भरे हैं।** आहाहा! ऐसा क्यों कहा? अनन्त गुण के कमरे। एक-एक गुण में भी अनन्त पर्याय होने की ताकत है। यह बहुत सूक्ष्म बात, बापू! अनन्त गुण के कमरे अन्दर प्रभु में हैं परन्तु कभी नजर नहीं की। उसका माहात्म्य नहीं आया, बाहर का माहात्म्य नहीं छोड़ा। आहा..! विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)